

श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध 3 अध्याय 16: जय-विजय का वैकुण्ठ से पतन

13 September 2026



पाठ से पहले एक निवेदन

श्रीमद्भागवत महापुराण के ये अध्यायवार सार गीता प्रेस भागवत को मुख्य आधार मानकर तैयार किए गए हैं। ये भागवत के अध्ययन में सहायक हैं, मूल ग्रंथ का स्थान नहीं ले सकते।

अध्ययन का मुख्य और अनुशंसित मार्ग गीता प्रेस की भागवत पुस्तक से सीधा पाठ है। यात्रा में, घर से दूर, या जब पुस्तक पास न हो, तब निरंतर अध्ययन, पुनरावृत्ति और समझ के लिए इन सारों का सहारा लिया जा सकता है।



भगवान् के अपने ही धाम के दो तेजस्वी द्वारपाल एक ही क्षण में अपना तेज खो देते हैं तथा वैकुण्ठ के द्वारों से नीचे गिरने लगते हैं — क्रोधवश निष्कासित होकर नहीं, अपितु स्वयं भगवान् की सम्मति से, उस शाप में जिसका विधान उन्होंने स्वयं पहले ही कर रखा था।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीमद्भागवतम् विङ्गडम् में आपका स्वागत है — श्रीमद्भागवत महापुराण की पावन कथाओं और शिक्षाओं की एक भक्तिपूर्ण यात्रा। पिछले अध्याय में, चार सन्त-बालक सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार वैकुण्ठ के द्वार पर भगवान् के दर्शन हेतु पहुँचे थे, किन्तु दो अभिमानी द्वारपालों, जय तथा विजय, द्वारा लौटा दिए गए — तथा धर्मपूर्ण क्रोध के एक क्षण में उन्होंने इन्हें शाप दे दिया कि वे नित्य धाम से मर्त्य जन्म में

गिर जाएँ। अध्याय 16 ठीक वहीं से आरम्भ होता है: स्वयं भगवान् ने सब कुछ सुन लिया है, और अब वे बोलते हैं। जो कुछ आगे होता है वह न तो सन्तों की भर्त्सना है, न ही अपने सेवकों की रक्षा, अपितु इससे कहीं अधिक चकित करने वाली बात है — परमपुरुष स्वयं यह आग्रह करते हैं कि किसी ब्राह्मण के प्रति अपराध उनके प्रति ही अपराध है; सन्त, विस्मित होकर, प्रत्युत्तर में यह आग्रह करते हैं कि वे ब्राह्मणों तथा प्रत्येक देवता के भी देवता हैं; तथा अन्ततः, एक ऐसा शाप जिसे दोनों पक्ष यथावत् रहने देने पर सहमत होते हैं, क्योंकि वह वास्तव में आरम्भ से ही कोई दुर्घटना नहीं था। ब्रह्मा, यह सब अपने ही पुत्रों को सुनाते हुए, अध्याय का समापन अब भी उस रहस्य को मन में तौलते हुए करते हैं: कुछ बातें, वे कहते हैं, हमारे अपने विवेचन से सुलझाने योग्य ही नहीं होतीं।

अध्याय-परिचय

- शास्त्र: श्रीमद्भागवत महापुराण
- स्कन्ध: 3 (तृतीय स्कन्ध)
- अध्याय: 16 (षोडश अध्याय)
- अध्याय-शीर्षक: जय-विजय का वैकुण्ठ से पतन
- मुख्य वक्ता: ब्रह्मा, अपने पुत्रों को अपना वर्णन जारी रखते हुए (सम्पूर्ण कथा, बाह्यतम स्तर पर, सूत गोस्वामी द्वारा महर्षि शौनक तथा नैमिषारण्य की सभा को सुनाई जा रही है); ब्रह्मा के वर्णन के भीतर, वैकुण्ठ के भगवान् तथा चारों कुमार-सन्त भी विस्तार से बोलते हैं
- मुख्य श्रोता: ब्रह्मा के पुत्र (नारद तथा अन्य ऋषि, अध्याय 14-15 से निरन्तर उपस्थित); वर्णित प्रसंग के भीतर, सन्त सनक तथा उनके भ्राता, तथा भगवान् के दो द्वारपाल जय तथा विजय
- मुख्य स्थल: वैकुण्ठ, भगवान् का अपना नित्य धाम, अध्याय 15 में वर्णित जय-विजय के विरुद्ध सन्तों के शाप के तुरन्त पश्चात्
- मुख्य विषय: अपने द्वारपालों के विरुद्ध शाप पर भगवान् का अपना निर्णय; उनका यह निर्णय कि ब्राह्मण के साथ किया गया कोई भी अन्याय स्वयं उन्हें ही पीड़ा देता है; सन्तों का विस्मित प्रत्युत्तर जो पुष्टि करता है कि वे सबके, ब्राह्मणों सहित, देवता हैं; भगवान् का यह रहस्योद्घाटन कि शाप आरम्भ से ही उनका अपना विधान था; जय तथा विजय को उनके अन्तिम विदाई-वचन, जिसमें लक्ष्मी द्वारा पूर्व में दिए गए एक शाप का स्मरण है; तथा द्वारपालों का वैकुण्ठ से दिति के गर्भ में वास्तविक पतन
- मुख्य श्लोक-संख्या: स्कन्ध 3, अध्याय 16, श्लोक 1-37
- मूल संस्करण: गीता प्रेस श्रीमद्भागवत महापुराण

ब्रह्मा पुनः आरम्भ करते हैं: भगवान् बोलते हैं

ब्रह्मा चार सन्त-बालकों को वैकुण्ठ की देहरी पर छोड़ आए थे, जय-विजय के विरुद्ध उनका शाप अभी-अभी उच्चारित हुआ था। अब वे अपने पुत्रों को बताते हैं कि आगे क्या हुआ: भगवान्, विचलित अथवा क्रुद्ध होने के स्थान पर, सन्तों के वचनों को स्पष्ट आनन्द के साथ ग्रहण करते हैं।

ब्रह्मोवाच

इति तद् गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम् ।

प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः ॥ १ ॥

*brahmovāca iti tad gr̥ṇatām teṣāṃ munīnām yoga-dharmīṇām pratinandya jagādedaṃ vikuṇṭha-
nilayo vibhuḥ*

भावार्थ: ब्रह्मा ने कहा: वैकुण्ठ में निवास करने वाले भगवान् ने उन सन्तों — जिन्होंने श्रीहरि के प्रति भक्ति का व्रत लेकर उनकी उपर्युक्त रीति से स्तुति की थी — के पूर्वोक्त वचनों को आनन्दपूर्वक ग्रहण किया, और उत्तर में निम्नलिखित वचन कहे। (स्कन्ध 3, अध्याय 16, श्लोक 1)

इस एक शब्द “आनन्दपूर्वक” पर रुककर विचार करने योग्य है। सर्वशक्तिमान् वैकुण्ठाधिपति ने अभी-अभी देखा है कि उनके ही द्वारपालों को चार आगन्तुक सन्तों द्वारा शाप दिया गया — और उनकी प्रथम अभिलिखित प्रतिक्रिया अपने सेवकों की चिन्ता अथवा सन्तों के साहस पर अप्रसन्नता नहीं, अपितु आनन्द है। जो कुछ भी आगे प्रकट होने वाला है, ग्रन्थ अपनी प्रथम पंक्ति से ही यह संकेत देता है कि वह कोई संकट नहीं जिसे सम्भाला जा रहा है। वह कुछ ऐसा है जिसका भगवान् पहले से ही स्वागत करते हैं।



वैकुण्ठाधिपति, विचलित होने के स्थान पर, अपने दो द्वारपालों को शाप देने के पश्चात् सन्तों के वचनों को आनन्दपूर्वक ग्रहण करते हैं, और उत्तर देने की तैयारी करते हैं (श्लोक 1)।

“तुम्हारे प्रति अपराध मेरे प्रति अपराध है”

आगे भगवान् जो कहते हैं वह अध्याय का दार्शनिक सार है, तथा वह बिना किसी संकोच अथवा शर्त के प्रकट होता है। वे न तो सन्तों से पुनर्विचार का आग्रह करते हैं, न ही अपने सेवकों के आचरण का बचाव करते हैं, न ही इस विषय को अपने ध्यान से नीचे मानते हैं। इसके विपरीत, वे इसे पूर्णतः अपना मान लेते हैं।

भगवान् ने कहा: मेरे ये अनुचर, जय तथा विजय नामक, ने मुझे भी अनदेखा करते हुए तुम्हारे प्रति एक महान् अपराध किया है। तुम जैसे मेरे प्रति समर्पित सन्तों द्वारा उन्हें दिया गया दण्ड मुझे स्वीकार्य है, हे सज्जन मुनियो, क्योंकि तुम्हारे प्रति किया गया अपराध मेरे प्रति ही किया गया अपमान है। ब्राह्मण मेरी सर्वोच्च देवता है, और मेरे अपने ही जनों द्वारा तुम्हें दिखाया गया अनादर मैं स्वयं द्वारा किया गया अपराध मानता हूँ; अतः इस अवसर पर मैं तुमसे इसके लिए क्षमा-याचना करता हूँ। (श्लोक 2–4)

तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे ।

तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृताः ॥ ४ ॥

tad vaḥ prasādayāmy adya brahma daivaṁ paraṁ hi me tad dhīty ātma-kṛtaṁ manye yat svapumbhir asat-kṛtāḥ

अर्थ: मैं आज तुमसे क्षमा माँगता हूँ, क्योंकि मेरे लिए ब्राह्मण ही सर्वोच्च पूज्य वस्तु है; मेरी सेवा करने वालों के हाथों तुम्हें जो भी तिरस्कार मिला है, उसे मैं अपने ही द्वारा किया गया अपराध मानता हूँ। (स्कन्ध 3, अध्याय 16, श्लोक 4)

तत्पश्चात् वे एक ऐसा दृष्टान्त देते हैं जो शताब्दियों से इस अध्याय के पाठकों के मन में बना रहा है: सेवक के अपराध पर संसार सामान्यतः स्वामी को दोष देता है, और इससे उत्पन्न अपयश उसके सुयश को उसी प्रकार कलंकित कर देता है जैसे श्वेत कुष्ठ त्वचा को विकृत कर देता है। यह कोई साधारण तुलना नहीं है। परम्परा की अपनी ही कल्पना में कुष्ठ केवल एक रोग नहीं अपितु एक दृश्य, अनिवार्य चिह्न है — और भगवान् सन्तों से यह कह रहे हैं कि उनके सेवकों के अपमान ने उन पर ठीक वैसा ही चिह्न छोड़ दिया है, चाहे वह अन्यथा अदृश्य ही क्यों न प्रतीत हो, क्योंकि वे अपने अधीनस्थों के कार्यों की सम्पूर्ण जिम्मेदारी स्वीकार करते हैं।



बिना किसी संकोच के, भगवान् घोषणा करते हैं कि सन्तों के प्रति उनके अनुचरों का अपराध स्वयं उनके प्रति अपराध है, और वे स्वयं की ओर से उनकी क्षमा-याचना करते हैं

(श्लोक 2-5)।

ब्राह्मण के चरण-रज उनकी अपनी महिमा से भी क्यों अधिक भारी हैं

आगे का वक्तव्य इस दृष्टि से असाधारण है कि भगवान् ब्राह्मणों को अपनी ही कीर्ति से भी ऊपर उठाने में कितनी दूर तक जाने को तत्पर हैं। वे सन्तों से कहते हैं कि सम्पूर्ण संसार, यहाँ तक कि चाण्डाल भी, उनकी निर्मल महिमा को कर्ण के मार्ग से सुनकर तत्काल पवित्र हो जाता है — किन्तु यह कीर्ति उन्होंने ब्राह्मणों से ही प्राप्त की है। तत्पश्चात् एक ऐसी प्रतिज्ञा आती है जिसमें वास्तविक दृढ़ता है: अजेय होते हुए भी, वे कहते हैं, यदि उनकी अपनी भुजा का आचरण किसी ब्राह्मण के प्रति शत्रुतापूर्ण पाया जाए तो वे उसे काट डालने में संकोच नहीं करेंगे।

यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहः

सद्यः पुनाति जगदाश्रपचाद्विकुण्ठः ।

सोऽहं भवद्भय उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-

श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥ ६ ॥

yasyāmṛtāmala-yaśaḥ-śravaṇāvagāhaḥ sadyaḥ punāti jagad āśvapacād vikunṭhaḥ so 'haṁ bhavadbhya upalabdha-sutīrtha-kīrtiś chindyāṁ sva-bāhum api vaḥ pratikūla-vṛttim

अर्थ: नीचतम कार्य में लगा हुआ व्यक्ति भी मेरी निर्मल कीर्ति को अपने कानों से सुनकर तत्काल पवित्र हो जाता है; और यह कीर्ति मैंने तुम ब्राह्मणों के ही माध्यम से पाई है — इसलिए यदि मेरी अपनी भुजा भी कभी तुम्हारे विरुद्ध हो जाए तो मैं उसे काटने में संकोच नहीं करूँगा। (स्कन्ध 3, अध्याय 16, श्लोक 6)

वे यहीं नहीं रुकते। ब्राह्मणों की सेवा के कारण, वे कहते हैं, उनके अपने चरण-कमलों की रज इतनी पवित्र हो गई है कि वह तत्क्षण समस्त पाप का नाश कर देती है, और उन्होंने ऐसा स्वभाव अर्जित किया है जिसके कारण लक्ष्मी, सौभाग्य की देवी, उन्हें कभी नहीं त्यागतीं — यद्यपि उन्हें स्वयं उनसे कोई आसक्ति नहीं, जबकि ब्रह्मा जैसे महान् देवता भी उनकी एक क्षणिक दृष्टि पाने हेतु व्रत रखते हैं। वे आगे कहते हैं: यज्ञ में यजमान द्वारा यज्ञाग्नि — जो उनके अपने ही मुखों में से एक है — के माध्यम से चढ़ाई गई आहुतियों का उन्हें उतना आनन्द नहीं मिलता जितना उस ब्राह्मण के मुख से घृत-सिक्त भोजन ग्रहण करने में मिलता है जिसने अपने कर्मों के फल उन्हें समर्पित कर दिए हैं और जो जो कुछ भी उसे मिले उसी में सन्तुष्ट रहता है।

तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्षमाणौ युष्मद्वयतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः ।

भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे यत्कल्पतामचिरतो भृतयोर्विवासः ॥ १२ ॥

tan me sva-bhartur avasāyam alakṣamāṇau yuṣmad-vyatikrama-gatiṁ pratipadya sadyaḥ bhūyo mamāntikam itāṁ tad anugraho me yat kalpatām acirato bhṛtaylor vivāsaḥ

भावार्थ: मेरे इन सेवकों ने अपने स्वामी के मन को न समझते हुए तुम्हारे प्रति यह अपराध किया। अतः यदि तुम यह विधान करो कि अपने अपराध का फल भोगकर वे शीघ्र ही मेरे समीप लौट आएँ — कि मेरे धाम से उनके निर्वासन की अवधि शीघ्र ही समाप्त हो जाए — तो मैं इसे अपने प्रति किया गया उपकार मानूँगा। (स्कन्ध 3, अध्याय 16, श्लोक 12)

भगवान् की योगमाया की शक्ति भी, वे उन्हें बताते हैं, अनन्त तथा अबाधित है, और वह जल जिसमें उनके चरण धोए गए हों — अर्थात् पावन गंगा — शिवजी के मस्तक पर धारण होते हुए भी तीनों लोकों को शीघ्र पवित्र कर देता है। फिर भी वे स्वयं अपने मुकुट पर ब्राह्मणों के चरणों की पावन रज धारण करते हैं! तब भला ऐसी परिस्थिति में कौन उनके साथ सहन न करेगा? ब्राह्मण, गौएँ तथा असहाय प्राणी, वे स्पष्ट कहते हैं, उनके अपने ही शरीर हैं — और यम के गिद्ध-सदृश दूत, जो सर्पों के समान क्रुद्ध रहते हैं, उन्हें अपनी चोंचों से क्रोधपूर्वक फाड़ते हैं जो अपने विवेक के उस पाप से नष्ट हो जाने के कारण इन्हें उनसे भिन्न मानते हैं। दूसरी ओर, वे ही उनका हृदय जीत लेते हैं जो प्रसन्न हृदय से तथा अमृत-सम मुस्कान से खिले हुए कमल-सम मुख से — चाहे ब्राह्मण कठोर वचन ही क्यों न कहे — उन्हें अपना ही स्वरूप मानकर आदर करते हैं, तथा

उन्हें प्रेमपूर्ण वचनों से प्रशंसा करते हुए वैसे ही शान्त करते हैं जैसे पुत्र अपने क्रुद्ध पिता को मनाता है, अथवा जैसे वे स्वयं इस समय सन्तों को मना रहे हैं। इस सम्पूर्ण दृढ़ विश्वास के साथ वे अपनी विनती रखते हैं — कोई आदेश नहीं, अपितु एक प्रार्थना — कि सन्त उनके सेवकों के निर्वासन की शीघ्र समाप्ति का विधान करें, इसे स्वयं उनके प्रति किया गया उपकार बताते हुए।



भगवान् घोषणा करते हैं कि ब्राह्मण के चरणों की रज, जिसे वे स्वयं अपने मुकुट पर धारण करते हैं, उनके अपने मुख से चढ़ाई गई यज्ञ-आहुतियों से भी अधिक पावन है, तथा वे सन्तों से, एक व्यक्तिगत उपकार के रूप में, अपने दोनों सेवकों की शीघ्र वापसी की याचना करते हैं (श्लोक 6-12)।

सन्त विस्मित होकर सुनते हैं

ब्रह्मा अपने पुत्रों को बताते हैं कि चारों सन्तों का क्रोध अभी-अभी शान्त हुआ था, फिर भी वे केवल यह वक्तव्य सुनकर सन्तुष्ट होने से बहुत दूर थे — वे इसे समझना चाहते थे।

ब्रह्मा ने आगे कहा: क्रोध रूपी सर्प से डसे जाने पर भी सन्तों की आत्मा भगवान् के मधुर तथा प्रकाशमय वचन, जो मन्त्रों की एक शृंखला के समान थे, सुनकर तृप्त नहीं हुई। यद्यपि संक्षिप्त, भगवान् का उत्कृष्ट वक्तव्य अपने गम्भीर आशय के कारण समझने में कठिन था तथा अत्यन्त गूढ़ अर्थ वाला था। सन्तों ने इसे पूर्ण सजग कानों से सुना तथा इस पर विचार भी किया; फिर भी वे यह न समझ सके कि वे क्या करने का विचार कर रहे हैं। सन्त, तथापि, उन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा उनके सम्पूर्ण शरीर में रोमांच हो आया। (श्लोक 13-15)

इस विवरण में एक शान्त, शिक्षाप्रद तत्त्व है। सर्वोच्च साक्षात्कार वाले सन्त भी — वे ही कुमार जो जन्म से वैराग्यशील रहे — भगवान् के आशय को पहली बार सुनकर पूर्णतः न समझ पाते हैं। भगवान् क्या कर रहे हैं यह समझना, ग्रन्थ का यह संकेत है, केवल सजगता अथवा हृदय की शुद्धता का विषय नहीं है; यह उनके निकटतम प्राणियों के लिए भी वास्तविक रूप से रहस्यमय रह सकता है, तथा आनन्द तथा विस्मय एक ही क्षण में सहवास कर सकते हैं।

“तुम सबके देवता हो, केवल ब्राह्मणों के नहीं”

सन्तों का प्रत्युत्तर अध्याय का दूसरा महान् वक्तव्य है, तथा वह एक लगभग चकित करने वाला उलटफेर प्रस्तुत करता है। जहाँ भगवान् ने ग्यारह श्लोकों में स्वयं को ब्राह्मणों के अधीन बताने में व्यतीत किए, वहीं सन्त अगले दस श्लोकों में विनम्रतापूर्वक किन्तु दृढ़ता से उन्हें सुधारते हैं — यह आग्रह करते हुए कि उनकी विनम्रता, चाहे कितनी भी सच्ची क्यों न हो, इससे यह परिवर्तित नहीं होता कि वे वास्तव में क्या हैं।

सन्तों ने कहा: हे स्वयंप्रकाश भगवान्, हम यह नहीं जान पाते कि आप क्या करने का विचार कर रहे हैं; क्योंकि, सबके स्वामी होते हुए भी, आप हमारे द्वारा आप पर किए गए उपकार की बात करते हैं! ब्राह्मणों के मित्र तथा हितैषी होने के कारण आपके लिए यह स्वाभाविक है कि आप ब्राह्मण को अपना सर्वोच्च देवता मानें। किन्तु सत्य यह है कि स्वयं भगवान् ही न केवल ब्राह्मणों के अपितु देवाधिदेवों — ब्रह्मा, शिव तथा अन्य — के भी आत्मा तथा देवता हैं। (श्लोक 16-17)

ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो ।

विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम् ॥ १७ ॥

brahmaṇyasya param daivam brāhmaṇāḥ kila te prabho viprāṇāṁ deva-devānām bhagavān ātma-daivatam

अर्थ: हे ब्राह्मणों के रक्षक, यह सत्य है कि आप ब्राह्मण को अपना सर्वोच्च देवता कहते हैं — किन्तु वास्तव में आप स्वयं ही उन ब्राह्मणों के भी आत्मा तथा पूज्य स्वामी हैं, जो स्वयं देवताओं में भी देवता हैं। (स्कन्ध 3, अध्याय 16, श्लोक 17)

वे आगे कहते हैं, श्लोक-दर-श्लोक अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए: सनातन धर्म आपसे ही उत्पन्न हुआ है और युग-युग में आपके ही अवतारों द्वारा रक्षित होता है; आपकी कृपा से ही निवृत्ति-मार्ग पर चलने वाले योगीजन जन्म-मृत्यु के सागर को सरलता से पार कर पाते हैं; स्वयं लक्ष्मी, जिनके चरणों की रज को अन्य लोग धन की कामना से अपने मस्तक पर धारण करते हैं, नियत समयों पर आपकी सेवा में उपस्थित रहती हैं, मानो आपके अपने चरण-कमलों के समीप कोई स्थान पाने के लिए लालायित हों।



चारों सन्त उत्तर देते हैं कि भगवान्, चाहे वे ब्राह्मणों का कितना भी सच्चा सम्मान करें, वास्तव में समस्त प्राणियों के, बिना किसी अपवाद के, आत्मा तथा देवता हैं — ब्राह्मणों के, ब्रह्मा तथा शिव के, तथा प्रत्येक लोक के भी (श्लोक 16-21)।

तत्पश्चात् अध्याय के सर्वाधिक विशिष्ट दृष्टान्तों में से एक आता है: सन्त भगवान् से कहते हैं कि वे तीनों युगों — सत्य, त्रेता तथा द्वापर — में साक्षात् धर्म-स्वरूप प्रकट हैं, तथा अपने तीन पादों — शुद्धि, तप तथा दया, जो इन तीन युगों के क्रमशः लक्षण हैं — से इस ब्रह्माण्ड की, चाहे चर हो अथवा अचर, रक्षा करते हैं, जबकि चतुर्थ युग, कलि, में भी, जो धर्म के अभाव के लिए कुख्यात है, सत्य का एक क्षीण अंश शेष रहता है। तथा वे स्पष्ट चेतावनी देते हैं: यदि वे, जो स्वयं धर्म हैं, कभी ब्राह्मण-वंश का पूजा तथा मृदु वचनों द्वारा सम्मान करना छोड़ दें, तो स्वयं उनके द्वारा निर्धारित वेद-मार्ग संसार से लुप्त हो जाएगा — क्योंकि प्रजा तो परमपुरुष के आचरण का ही अनुसरण करेगी, चाहे वह जैसा भी हो।

भगवान् की विनम्रता, सन्त आग्रह करते हैं, उनकी महिमा को न्यून नहीं कर सकती — यह, वे कहते हैं, “आपकी ओर से मात्र एक क्रीड़ा है,” क्योंकि वे ब्राह्मणों के समक्ष चाहे कितना भी झुक जाएँ, तीनों लोकों के सम्राट् ही बने रहते हैं।

सन्त अपने उत्तर का समापन एक उल्लेखनीय बात के साथ करते हैं: जय-विजय की ओर से भगवान् की विनती को सरलतापूर्वक स्वीकार करने के स्थान पर, वे स्वयं के लिए भी वह दण्ड स्वीकार करने की पेशकश करते हैं जो भगवान् चाहें — क्योंकि आखिरकार यह वे ही थे जिन्होंने उनके निर्दोष सेवकों के विरुद्ध शाप दिया था। हे विश्वेश्वर, वे कहते हैं, आप उन्हें जो भी अन्य दण्ड देना चाहें अथवा उन्हें (अपनी सेवा में बने रहने हेतु) जो भी अतिरिक्त निर्वाह प्रदान करना चाहें, हम उसका हार्दिक अनुमोदन करते हैं; अथवा आप हमें जो भी उचित दण्ड दें, क्योंकि हमने ही आपके निर्दोष सेवकों के विरुद्ध शाप उच्चारित किया है। (श्लोक 25)



यह सिद्ध कर देने के पश्चात् कि भगवान् समस्त प्राणियों के देवता हैं, चारों सन्त अपने उत्तर का समापन असाधारण विनम्रता के साथ करते हैं — जय-विजय के लिए भगवान् की जो भी इच्छा हो उसे स्वीकार करते हुए, तथा स्वयं के लिए भी कोई भी उचित दण्ड आमन्त्रित करते हुए, क्योंकि यह वे ही थे जिन्होंने शाप उच्चारित किया था (श्लोक 22-25)।

“यह शाप स्वयं मेरे द्वारा विधान किया गया था”

केवल अब, जब दोनों वक्तव्य पूर्णतः आदान-प्रदान हो चुके हैं, भगवान् वह सत्य प्रकट करते हैं जो अब तक हुए सब कुछ को नए सन्दर्भ में रख देता है।

श्रीभगवानुवाच

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः संरम्भसम्भृतसमाध्यनुबद्धयोगौ ।

भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः शापो मयैव निमित्तस्तदवेत विप्राः ॥ २६ ॥

śrī-bhagavān uvāca etau suretara-gatiṁ pratipadya sadyaḥ saṁrambha-sambhṛta-samādhyanubaddha-yogau bhūyaḥ sakāśam upayāsyata āśu yo vaḥ śāpo mayaiva nimitas tad aveta viprāḥ

भावार्थः भगवान् ने उत्तर दिया: जान लो, हे पावन ब्राह्मणो, कि तुमने जो शाप उच्चारित किया वह मेरे ही द्वारा विहित था! अतः शीघ्र ही असुर-योनि में जन्म लेकर, तथा क्रोध से तीव्र किए गए ध्यान द्वारा मुझसे दृढ़तापूर्वक जुड़े रहकर, वे शीघ्र ही मेरे समीप लौट आएँगे। (स्कन्ध 3, अध्याय 16, श्लोक 26)

जो कुछ भी क्षण-प्रतिक्षण एक सहज घटनाक्रम के रूप में प्रतीत हुआ था — द्वारपालों का अभिमान, सन्तों का क्रोध, स्वयं शाप — यहाँ यह प्रकट होता है कि यह सब भगवान् की अपनी इच्छा से पहले ही गतिमान कर दिया गया था, इससे पूर्व कि इनमें से कुछ भी दृश्यमान रूप में घटित होता। यह कोई ऐसा प्रकरण नहीं जहाँ भगवान् किसी दुर्घटना को बाद में सुधार रहे हों। शाप आरम्भ से ही योजना का भाग था, और सन्त, बिना जाने ही, इसे उच्चारित करने में केवल उनके साधन बने। भगवान् उन्हें यह भी बताते हैं कि यह निर्वासन किस प्रकार समाप्त होगा:

असुर बनकर जन्म लेने पर, जय-विजय उन पर इतने तीव्रता से केन्द्रित रहेंगे — यहाँ तक कि उस क्रोध तथा घृणा के माध्यम से भी जो उनके मन को उनके विरुद्ध युद्धरत रखेगी — कि यह एकाग्रता स्वयं एक प्रकार के सघन स्मरण का कार्य करेगी, और यही उन्हें शीघ्र ही उनके समीप वापस ले आएगी।

ऐसा विधान भगवान् ने किया ही क्यों? इसका उत्तर अध्याय में आगे ही स्पष्ट होता है, जब ब्रह्मा यह प्रकट करते हैं कि गिरे हुए द्वारपाल किसके पुत्र बनने वाले हैं (श्लोक 35-36) — किन्तु उसकी योजना यहीं दृश्यमान हो जाती है। वैकुण्ठ में भगवान् के लिए युद्ध करने योग्य कोई शत्रु नहीं है; वहाँ प्रत्येक प्राणी उनके प्रेम में पूर्णतः लीन है, तथा युद्ध की भावना को कोई लक्ष्य ही नहीं मिलता। फिर भी वह युद्ध-भावना उतनी ही उनके स्वरूप का अंग है जितनी उनकी करुणा; इसलिए वे अपने ही दो अत्यन्त प्रिय सेवकों को कुछ काल के लिए भौतिक जगत् में अपने प्रतिपक्षी के रूप में खड़ा होने भेज देते हैं — यह अपमान से निष्कासन नहीं अपितु एक विशेष कार्य पर प्रेषण है, जिससे वे उनसे पुनः, इस बार उनके संहारक के रूप में, तथा स्वयं अपने ही हाथों उस मृत्यु के माध्यम से उनके उद्धारक के रूप में, मिल सकें। इस दृष्टि से देखें तो ब्राह्मणों का शाप भगवान् की योजना के मार्ग में कोई बाधा नहीं, अपितु वही साधन है जिससे यह योजना पूर्ण होती है (श्लोक 26, 35-36)।

यह सुनकर, ब्रह्मा अपने पुत्रों को बताते हैं, सन्तों ने भगवान् की भक्तिपूर्वक परिक्रमा की, उन्हें प्रणाम किया, तथा विदा ली — अत्यन्त प्रसन्न, अब भी उनके दर्शन किए गए दिव्य वैभव की प्रशंसा करते हुए। (श्लोक 27-28)



भगवान् वह प्रकट करते हैं जो न तो द्वारपाल जानते थे न सन्त — कि शाप स्वयं आरम्भ से ही उनके द्वारा विहित था, तथा जय-विजय का उनके असुर-जन्मों में उनके प्रति क्रोध भी उन्हें उनकी शीघ्र वापसी तक उनसे बाँधे रखेगा (श्लोक 26)।

भगवान् के अपने द्वारपालों को विदाई-वचन

सन्तों के जाने के पश्चात्, भगवान् अन्ततः उन दोनों की ओर मुड़ते हैं जो इस सम्पूर्ण प्रसंग के केन्द्र में बिना एक भी शब्द बोले खड़े रहे हैं — जय तथा विजय।

भगवान् ने तब अपने अनुचरों से कहा, “इस स्थान से प्रस्थान करो, किन्तु भयभीत मत हो; तुम्हारा कल्याण हो। ब्राह्मणों के शाप को निरस्त करने में सक्षम होते हुए भी, मैं ऐसा नहीं करूँगा; इसके विपरीत, इसमें मेरी ही स्वीकृति है।” (श्लोक 29)

भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम् ।

ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे ॥ २९ ॥

bhagavān anugāv āha yātaṁ mā bhaiṣṭam astu śam brahma-tejaḥ samartho 'pi hantum necche mataṁ tu me

भावार्थः भगवान् ने अपने दोनों अनुचरों से कहा: “जाओ, भयभीत मत हो, तुम्हारा कल्याण हो। ब्राह्मणों के शाप के प्रभाव को निरस्त करने में पूर्णतः सक्षम होते हुए भी, मैं ऐसा करना नहीं चाहता — यह मेरी अपनी इच्छा है।” (स्कन्ध 3, अध्याय 16, श्लोक 29)

तत्पश्चात् वे कुछ ऐसा प्रकट करते हैं जो सम्पूर्ण प्रसंग को एक भिन्न ही प्रकाश में पुनःप्रस्तुत करता है: यह वास्तव में पहला अवसर नहीं था। यह पहले ही रमा — स्वयं लक्ष्मी — द्वारा उच्चारित किया जा चुका था, जो जय-विजय पर उस समय क्रुद्ध हुई थीं जब उन्होंने पूर्व अवसर पर, भगवान् के योगनिद्रा (गहन समाधि अथवा तन्द्रा) में लीन रहते समय, द्वार पर उनका प्रवेश रोक दिया था। (श्लोक 30) सन्तों का शाप, दूसरे शब्दों में, कोई पृथक् दुर्घटना नहीं अपितु पहले से विद्यमान एक ऋण का द्वितीय अर्ध है। भगवान् उन्हें पुनः आश्चस्त करते हैं कि उनके प्रति, यहाँ तक कि क्रोध-प्रेरित विचार के माध्यम से भी, गहन चिन्तन द्वारा ब्राह्मणों के प्रति अपने अपराध से मुक्त होकर, वे शीघ्र ही उनके समीप वापस लौट आँगे। (श्लोक 31) अपने द्वारपालों को यह अन्तिम निर्देश देकर, भगवान् प्रासादों की पंक्तियों से सुशोभित तथा अद्वितीय वैभव-सम्पन्न अपने धाम में प्रवेश कर जाते हैं। (श्लोक 32)



अपने दोनों मौन द्वारपालों की ओर अन्ततः मुड़ते हुए, भगवान् उन्हें निर्भय होकर प्रस्थान करने को कहते हैं, यह प्रकट करते हुए कि यही शाप एक बार पहले भी स्वयं लक्ष्मी द्वारा गतिमान किया जा चुका था, तथा उनकी शीघ्र वापसी का वचन देकर अपने ही वैभवशाली धाम में लौट जाते हैं (श्लोक 29-32)।

पतन

आगे जो वर्णित है वह एक संयमित, लगभग करुणामय गम्भीरता के साथ प्रस्तुत किया गया है — न विजय, न भय, अपितु सरल, ब्रह्माण्डीय तथ्य।

ब्राह्मणों के शाप के फलस्वरूप, जो सुगमता से टाला नहीं जा सकता था, भगवान् के दोनों अनुचर, वैकुण्ठवासियों में देवताओं के अग्रणी, अपना तेज खो बैठे, तथा उनका अभिमान भी जाता रहा, ठीक उसी समय जब वे श्रीहरि के धाम से गिरने ही वाले थे। (श्लोक 33) जब वे वास्तव में भगवान् विष्णु के धाम से गिरने लगे, तो प्रमुख विमानों में स्थित प्राणियों की ओर से एक ऊँची चीत्कार उठी। (श्लोक 34)

तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद्धरिलोकतः ।

हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ ॥ ३३ ॥

tau tu gīrvāṇa-ṛṣabhau dustarād dhari-lokataḥ hata-śriyau brahma-śāpād abhūtām vigata-smayau

भावार्थ: ब्राह्मण के शाप के फलस्वरूप, जिसे पार करना कठिन था, देवताओं में श्रेष्ठ वे दोनों हरि के धाम से गिरते हुए अपना तेज तथा अपना अभिमान खो बैठे। (स्कन्ध 3, अध्याय 16, श्लोक 33)

विमानों में स्थित साक्षी — स्वयं स्वर्ग के वे निवासी जो सामान्यतः ऐसे पतन को संतोष अथवा भय के साथ देखते — इसके विपरीत चीत्कार कर उठते हैं, मानो कुछ वास्तव में शोकजनक घटित हो रहा हो: अमरों में से दो श्रेष्ठतम, स्वयं भगवान् के द्वार पर खड़े रहे सेवक, प्रकाश के लोक को छोड़ रहे हैं। ब्रह्मा तब अपने पुत्रों को ठीक-ठीक बताते हैं कि वह पतन कहाँ जा पहुँचा:

श्रीहरि के वे दोनों प्रमुख अनुचर अब कश्यप के शक्तिशाली बीज में प्रवेश कर चुके हैं जो दिति के गर्भ में स्थापित है। इन्हीं दो असुरों की महिमा के कारण तुम्हारी महिमा प्रभावित हुई है; और इसका कोई निवारण नहीं है, क्योंकि स्वयं भगवान् ही इस समय ऐसा करने के लिए तत्पर हैं। (श्लोक 35–36)



तेज तथा अभिमान से रहित होकर, जय-विजय दिव्य विमानों में स्थित प्राणियों की ऊँची चीत्कार के मध्य श्रीहरि के धाम से गिरते हैं, महर्षि कश्यप के उस बीज की ओर उतरते हुए जो पहले ही दिति के गर्भ में स्थापित हो चुका है (श्लोक 33-35)।

यह वही क्षण है जिसकी ओर सम्पूर्ण दो-अध्यायों का यह प्रसंग बढ़ रहा था, तथा श्रीमद्भागवत इसे कोमल नहीं बनाता: दोनों द्वारपाल जो कभी वैकुण्ठ की देहरी की रक्षा करते थे, इस अध्याय के समापन तक, दिति के पुत्रों के रूप में जन्म लेने की ओर अग्रसर हैं — वे असुर जिनका विशाल बल तथा देवताओं के प्रति शत्रुता आगामी अनेक स्कन्धों में भागवत की कथा को गति देगी। ब्रह्मा उन्हें यहाँ केवल परोक्ष रूप से “इन दो असुरों” के रूप में नामित करते हैं, किन्तु परम्परा उन्हें स्पष्ट रूप से हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष के रूप में पहचानती है, जिनका जन्म स्वयं ब्रह्मा भी इतनी महत्वपूर्ण घटना के रूप में स्वीकार करते हैं कि इसने देवताओं की, उनके अपने पुत्रों सहित, महिमा को प्रभावित कर दिया है।

ब्रह्मा का समापन-चिन्तन

ब्रह्मा इस प्रसंग का समापन किसी स्पष्टीकरण से नहीं करते। वे इसका समापन, इसके विपरीत, समर्पण के निकट किसी वस्तु से करते हैं।

भगवान्, जो तीनों गुणों के नियन्ता हैं, तथा जो ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए उत्तरदायी हैं, तथा जिनकी योगमाया को योगेश्वर भी सरलता से नहीं समझ पाते — वही परम पुरातन पुरुष ही हमारी रक्षा करेंगे। इस विषय में हमारे विवेचन से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? (श्लोक 37)

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः ।

क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः ॥ ३७ ॥

viśvasya yaḥ sthiti-layodbhava-hetur ādyo yogeśvarair api duratyaya-yogamāyaḥ kṣemaṁ vidhāsyati sa no bhagavāṁs tryadhīśas tatrāsmadiya-vimṛśena kiyān ihārthaḥ

भावार्थः जो विश्व के पालन, संहार तथा उत्पत्ति के कारण हैं, जिनकी योगमाया को योगेश्वर भी दुर्गम पाते हैं — वही सनातन भगवान्, त्रिलोकाधीश, इस विषय में हमारा कल्याण करेंगे। तब हमारे अपने विवेचन का इसमें क्या प्रयोजन रह जाता है? (स्कन्ध 3, अध्याय 16, श्लोक 37)

ब्रह्मा, जिन्होंने इसी स्कन्ध के पूर्ववर्ती अध्यायों में सम्पूर्ण सृष्टि को गति दी थी, यहाँ स्वयं अपने पुत्रों के समक्ष खुले रूप में स्वीकार करते हैं कि वे पूर्णतः नहीं समझ पाते कि भगवान् ने अपने ही दो नित्य सेवकों को इतनी दूर तक क्यों गिरने दिया, अथवा इसका गहन प्रयोजन क्या है — केवल यह कि भगवान् की अपनी योगमाया इसे नियन्त्रित करती है, तथा ब्रह्मा की ओर से कोई भी तर्क-वितर्क इसमें कोई सुधार नहीं ला सकता। यह उस अध्याय के समापन हेतु एक विशेष रूप से विनम्र स्वर है जिसका आरम्भ स्वयं भगवान् की ब्राह्मणों के प्रति असाधारण विनम्रता से हुआ था, तथा यह कथा को, पूर्णतः जानबूझकर, अनसुलझी छोड़ देता है — आगामी स्कन्धों की ओर एक खुला द्वार।

इस अध्याय की प्रमुख शिक्षाएँ

1. भगवान् अपने अधीनस्थों के लिए व्यक्तिगत उत्तरदायित्व लेते हैं। अपने सेवकों की भूल से स्वयं को दूर करने के स्थान पर, भगवान् उनके अपराध को अपना घोषित करते हैं तथा स्वयं की ओर से सन्तों से क्षमा-याचना करते हैं, तथा स्वामी को कलंकित करने वाली सेवक की भूल की तुलना श्वेत कुष्ठ के उस एक चिह्न से करते हैं जो सम्पूर्ण त्वचा को विकृत कर देता है — यह अध्याय संकेत देता है कि सच्चा प्राधिकार अपने आश्रितों को नहीं त्यागता (श्लोक 2-5)।

2. भगवान् के प्रति भक्ति ब्राह्मण के सम्मान से अविभाज्य है। भगवान् की यह घोषणा कि ब्राह्मण की रज उनके अपने मुख से चढ़ाई गई यज्ञ-आहुतियों से भी अधिक पावन है, विद्वान् तथा शुद्ध के प्रति श्रद्धा को किसी पृथक् गुण के रूप में नहीं, अपितु स्वयं भगवान् के प्रति श्रद्धा के रूप में पुनः परिभाषित करती है — वही तर्क जिससे वे कहते हैं कि नीचतम व्यक्ति भी उनकी महिमा सुनकर पवित्र हो जाता है, तथा जिससे वे ब्राह्मण के विरुद्ध होने पर अपनी ही भुजा काट डालने की प्रतिज्ञा करते हैं (श्लोक 6-11)।

3. सर्वाधिक उन्नत साधक भी भगवान् के आशय को प्रथम बार में पूर्णतः ग्रहण नहीं कर पाते। चारों सन्त — जन्म से ही परम त्यागी — भगवान् के वक्तव्य को अत्यन्त सजगता से सुनते हैं तथा फिर भी नहीं समझ पाते कि वे क्या करना चाहते हैं; उनकी इच्छा को समझना कृपा का विषय है, केवल शुद्धता अथवा सजगता का नहीं (श्लोक 13-15)।

4. सच्ची विनम्रता किसी के वास्तविक स्वरूप के सत्य को परिवर्तित नहीं करती। ब्राह्मणों के प्रति भगवान् की स्वयं की अधीनता इससे उन्हें समस्त प्राणियों के आत्मा तथा देवता होने से किंचित् भी कम नहीं करती, जैसा कि सन्त स्वयं तब आग्रह करते हैं जब वे उन्हें ब्रह्मा, शिव आदि देवाधिदेवों के भी पूज्य स्वामी घोषित करते हैं; एक महान् प्राणी की विनम्रता को यहाँ “मात्र एक क्रीड़ा” कहा गया है, कभी भी न्यूनता नहीं (श्लोक 16-24)।

5. किसी भूल को ईमानदारी से स्वीकार करना, तथा उसके परिणाम को स्वयं वहन करने की पेशकश करना, स्वयं महानता का चिह्न है। क्रोध में शाप उच्चारित करने के पश्चात्, सन्त अपना बचाव नहीं करते अपितु स्वयं के लिए भी कोई भी दण्ड आमन्त्रित करते हैं जो भगवान् उचित समझें — यह उत्तरदायित्व स्वेच्छा से प्रस्तुत किया गया, बलपूर्वक निकाला नहीं गया (श्लोक 25)।

6. जो दुर्घटना प्रतीत होती है वह पहले से ही किसी विशाल योजना का भाग हो सकती है। भगवान् का यह रहस्योद्घाटन कि शाप आरम्भ से ही उनके द्वारा विहित था, सम्पूर्ण प्रसंग को क्रोध तथा परिणाम की कथा से एक ऐसी कथा में रूपान्तरित कर देता है जहाँ प्रयोजन स्वयं को उन इच्छुक साधनों के माध्यम से पूर्ण करता है जो यह जानते भी नहीं थे कि वे साधन हैं (श्लोक 26)।

7. प्रत्येक पतन अन्तहीन दण्ड नहीं होता, तथा प्रत्येक रहस्य को हमारे द्वारा सुलझाया जाना आवश्यक नहीं। जय-विजय के पतन में ही उनकी शीघ्र वापसी का बीज निहित है, तथा ब्रह्मा का समापन-स्वीकरण — कि केवल भगवान् की अपनी योगमाया ही परिणाम को सुनिश्चित कर सकती है, उनका विवेचन नहीं — एक ऐसी भक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करता है जो वास्तविक अज्ञान के भीतर भी विश्राम कर सकती है (श्लोक 33-37)।

एक भक्तिपूर्ण चिन्तन

इस अध्याय में एक विशेष प्रकार की सान्त्वना उपलब्ध है जिसे इसके नाटकीय तत्त्वों के नीचे अनदेखा करना सरल है। हम दैवी न्याय की कल्पना प्रायः किसी महान् ऊँचाई से दिए गए के रूप में करते हैं, उस उलझन से अछूता जिसे वह सम्बोधित करता है — भगवान् न्यायाधीश के रूप में, सन्त याचक के रूप में, द्वारपाल दण्डित के रूप में। यह अध्याय इसके स्थान पर एक ऐसा भगवान् दर्शाता है जो सीधे उस उलझन में उतरते हैं, उसे अपना ही मानकर उत्तरदायित्व लेते हैं, और तत्पश्चात् ही यह प्रकट करते हैं कि उन्होंने उसके समाधान की व्यवस्था इससे पहले ही कर रखी थी कि वह आरम्भ भी हुआ। जय-विजय कथा से अपमान में विलुप्त नहीं होते; वे उस वापसी के वचन के साथ गिरते हैं जिसकी गारंटी स्वयं भगवान् दो बार देते हैं, एक बार सन्तों से तथा एक बार स्वयं उनके सामने। स्वयं ब्रह्मा, जिन्होंने अपनी ही आँखों से सम्पूर्ण प्रसंग को घटित

होते देखा, स्वीकार करते हैं कि वे इसे पूर्णतः समझ नहीं पाते — और उसी असमर्थता में, निराशा नहीं, अपितु विश्राम पाते हैं। इसमें वास्तविक भक्तिपूर्ण स्वतन्त्रता है: यह स्वीकृति कि हमारे अपने जीवन का प्रत्येक कठिन मोड़ हमारे द्वारा समझे जाने से पूर्व ही विश्वसनीय बन जाना आवश्यक नहीं।

एक दैनिक भक्ति-अभ्यास

आज, अपने जीवन की किसी ऐसी परिस्थिति का स्मरण करें जो उस समय एक शुद्ध दुर्घटना अथवा किसी की भूल के साधारण परिणाम-सी प्रतीत हुई हो — आपकी अपनी अथवा किसी अन्य की — जिसके पीछे कोई विशाल अर्थ न रहा हो। इस सम्भावना के साथ बैठें, जैसा ब्रह्मा इस अध्याय के समापन पर करते हैं, कि आपके जीवन के कुछ सूत्र पहले से ही आपकी वर्तमान समझ से परे किसी प्रयोजन द्वारा थामे हुए हों, तथा आपका कार्य सदैव रहस्य को सुलझाना नहीं अपितु कभी-कभी केवल उस पर विश्वास करना है जिसने इसे गति दी। अपने दिन को आगे बढ़ाने से पूर्व, कुछ क्षण शान्त बैठकर धीमे स्वर में दोहराएँ: “ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।” यह स्मरण आपको वैसे ही ले चले जैसे भगवान् जय-विजय को ले जाने का वचन देते हैं — दृढ़तापूर्वक, कठिनतम पथ से होकर भी, उन्हीं की ओर।

उपसंहार

तृतीय स्कन्ध का षोडश अध्याय पूर्ववर्ती अध्याय में आरम्भ हुए प्रसंग को पूर्ण करता है, और ऐसा करते हुए यह ऐसी कथा के अन्त की प्रत्येक अपेक्षा को उलट देता है। भगवान् न तो अपने द्वारपालों का बचाव करते हैं, न ही केवल उनके दण्ड को स्वीकार करते हैं — वे उनके अपराध को अपना घोषित करते हैं, जिन सन्तों ने उन्हें शाप दिया उन्हें अपनी ही देवता के रूप में सम्मानित करते हैं, तथा तत्पश्चात् प्रकट करते हैं कि शाप आरम्भ से ही उनकी अपनी योजना था। सन्त, अपनी ओर से, उनकी आत्म-लघुता को यथावत् स्वीकार करने से इनकार करते हैं, उनके सत्य, सार्वभौमिक स्वामित्व का आग्रह करते हुए, यहाँ तक कि वे स्वयं के लिए भी विनम्रतापूर्वक कोई भी परिणाम वहन करने की पेशकश करते हैं। तथा जय-विजय, जो कभी वैकुण्ठ की देहरी के अभिमानी रक्षक थे, अन्ततः दिति के गर्भ की ओर गिरते हैं, देखते हुए स्वर्ग की व्यथा के मध्य — अपने साथ, यहाँ तक कि अपने असुर-जन्मों में भी, एक अनिवार्य वापसी का बीज लेकर। ब्रह्मा समापन करते हैं निश्चितता से नहीं अपितु समर्पण से, यह स्मरण कराते हुए कि भगवान् की योजना के कुछ मोड़ विवेचन द्वारा सुलझाए जाने के लिए नहीं, केवल विश्वास किए जाने के लिए हैं।

श्रीमद्भागवत की दिव्य ज्ञान-ज्योति हमारे हृदयों में शुद्ध भक्ति जाग्रत करे।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

जय श्री माधव।

सन्दर्भ तथा आभार

- मूल संस्करण: गीता प्रेस, श्रीमद्भागवत महापुराण (अंग्रेज़ी, सम्पूर्ण), तृतीय स्कन्ध, षोडश प्रवचन, पृष्ठ 207–211।
- श्रृंखला: श्रीमद्भागवतम् विज़डम • विश्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट।
- पंडित डॉ. श्री काशीनाथ मिश्र जी के आध्यात्मिक मार्गदर्शन तथा अनुशंसा के अनुसार प्रस्तुत।

यह लेखक के अपने शब्दों में एक मौलिक, निष्ठापूर्ण पुनर्कथन है, जिसमें संक्षिप्त उद्धृत श्लोक देवनागरी तथा लिप्यन्तरण में दिखाए गए हैं तथा उनके भावार्थ सारांश के रूप में दिए गए हैं। यह किसी एक प्रकाशक के सतत अनुवाद अथवा टीका का पुनरुत्पादन नहीं है। किसी भी प्रकाशक से सम्बद्धता अथवा समर्थन की कोई प्रतिध्वनि नहीं है।

॥ हरि ॐ तत्सत् ॥

जय श्री माधव

ऑनलाइन पढ़ें: kalkiabatara.org/hi/blog-srimad-bhagavatam-canto-3-chapter-16-jaya-vijaya-ka-vaikuntha-sepatan.html

श्रीमद्भागवतम् विज्ञम · कल्कि अवतार इंटरनेशनल · बिस्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट

